International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 21-03-2026, Accepted: 21-04-2026, Published: 06-05-2026
Volume 12, Issue 2, 2026, Page No. 105-107

दलित विमर्श की वैचारिकी

डॉ. राजीव कुमार
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, आर. डी. एण्ड डी. जे. कॉलेज, मुंगेर, बिहार, भारत

सारांश
किसी भी विमर्श या आलोचना साहित्य के निर्माण एवं विकास में वैचारिकी का प्रमुख स्थान होता है। दलित विमर्श के विकास के केन्द्र में उसकी वैचारिकता का प्रमुख स्थान है। दलित विमर्श के केन्द्र में अम्बेडकरवादी विचारधारा की केन्द्रीय भूमिका है, पर साथ ही वह समस्त मानव के कल्याण से जुड़े विचारों की भी समर्थक है। इस आलेख में दलित विमर्श की वैचारिकी के प्रमुख आधारों को विश्लेषित करने का प्रयास किया जायेगा।

मूल शब्दः दलित विमर्श, दलित चेतना, वर्ग, जाति, लोकतंत्र, सामंतवाद, पूँजीवाद, जन–साहित्य, मार्क्सवाद, विचारधारा, वेदना

दलित विमर्श आज हिन्दी साहित्य के विस्तार एवं लोकतांत्रिकरण में मुख्य भूमिका निभा रहा है। इसलिए ज़रूरी है कि इसकी वैचारिकी को स्पष्ट किया जाए। इस शोध–आलेख में विभिन्न बिन्दुओं के अंतर्गत दलित विमर्श की वैचारिकी को व्याख्यायित करने का प्रयास किया जायेगा।

मुख्य भागः दलित विमर्श की वैचारिकी को समझे बिना समकालीन साहित्य को नहीं समझा जा सकता। अतः दलित विमर्श को उसके प्रमुख आधारों के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करना आवश्यक है ।

दलित चेतना का प्रश्न

"भारतीय दलित साहित्य के सन्दर्भ में पहली चिंता 'दलित चेतना के पहचान' के सम्बन्ध में की जा सकती है।"[1] दलित चेतना की विशिष्टता को परिभाषित करना, दलित–विमर्श के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। इस सन्दर्भ में दलित साहित्य की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं, "दलित साहित्य जन साहित्य है, यानी मासलिटरेचर (mass literature)। सिर्फ इतना ही नहीं, लिटरेचर ऑफ एक्शन (literature of action) भी है जो मानवीय मूल्यों की भूमिका पर सामंती मानसिकता के विरुद्ध आक्रोश जनित संघर्ष है। इसी संघर्ष और विद्रोह से उपजा है दलित साहित्य।"[2] ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा प्रस्तावित यह परिभाषा दलित–चेतना के स्वरूप पर भी प्रकाश डालती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के अनुसार दलित चेतना का सीधा सम्बन्ध अन्यायपूर्ण सामंतवादी व्यवस्था से है। ऐसे में यह विचारणीय है कि इस व्यवस्था के विरुद्ध दलित चेतना के प्रतिरोध का स्वरूप क्या होगा ? आज के सामंतवाद का स्वरूप पारंपरिक सामंतवाद से बिल्कुल अलग है इसलिए पूंजीवाद–पोषित सामंतवादी व्यवस्था के आलोक में दलित–चेतना को विकसित किया जाना आवश्यक है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य के संदर्भ में यह भी मानते थे कि "दलित साहित्य नकार का साहित्य है जो संघर्ष से उपजा है तथा जिसमें समता, स्वतंत्रता और बंधुता का भाव है और वर्ण व्यवस्था से उपजे जातिवाद का विरोध है।"[3] इसी संदर्भ में मराठी के प्रतिष्ठित दलित नाटककार के द्वारा प्रस्तुत किए गए परिभाषा और एक उदाहरण को देखना समीचीन होगा। दत्ता भगत के अनुसार "जाति के कारण उत्पन्न कथा वेदना या दुःख ही दलित–चेतना है।"[4] इसी क्रम में जो उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किया वह जितना आश्चर्यचकित करने वाला है उतना ही आत्मपरीक्षण के लिए प्रेरित करने वाला है। उन्होंने लिखा, "दलित की किसी संस्था में अधिकांश दलित हैं और एक दो ब्राह्मण कर्मचारी भी हैं। सारे दलित जब उस सवर्ण/ब्राह्मण को अपमानित करने लगते हैं, परेशान करने लगते हैं तब उसकी वह यातना–वेदना दलित दुःख ही है क्योंकि वह जाति के कारण उत्पन्न हुआ है।"[5]

इन दोनों विचारों के माध्यम से हम दलित चेतना के विविध पक्षों को समझ सकते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि और दत्ता भगत दोनों ही जाति–व्यवस्था से उपजे यातना एवं व्यथा को दलित चेतना का मूल निर्धारक तत्व मानते हैं । इसके बावजूद दोनों के दृष्टिकोण में पर्याप्त अंतर भी दिखाई पड़ता है। दलित चेतना को लेकर विभिन्न विचारकों का भिन्न–भिन्न मत है इसलिए एक व्यापक स्वरूप को निर्धारित करना जरूरी है। मराठी साहित्यकार बाबुराव बागुल ने भी सभी श्रमिक दलित व्यक्ति, पतित शोषित जन की चेतना को दलित चेतना माना था। ऐसे में "प्रश्न है कि इन व्यापक परिभाषाओं को स्वीकार किया जायेगा या जो जन्म से दलित है, उसी की चेतना को दलित चेतना कहकर साहित्य क्षेत्र को एक जाति तक सीमित रखने वाले हैं ? – यह अहम् प्रश्न है।"[6]

शरण कुमार लिम्बाले ने अपने एक लेख 'दलित साहित्य और उसका भविष्य' में लिखा है, "संविधान को प्रमाण मानकर चलें तो इसके अंतर्गत एस.सी., एस.टी., डी.एन.टी., एन.टी. तथा पिछड़े वर्ग (ओबीसी) आते हैं। देश की 50ः की कथा–वेदना–अनुभूति को ही इस दलित चेतना के रूप में स्वीकारने वाले हैं क्या? यह प्रश्न है।"[7] दलित चेतना का सम्बन्ध चातुर्वण्य–व्यवस्था की अमानवीयता एवं इससे पैदा हुई वेदना से है, यह एक निर्विवाद सत्य है। इस व्यवस्था से प्रताड़ित होने वाले दलित के साथ अन्य जाति एवं समुदाय रहे हैं। इसी संदर्भ में शरण कुमार लिम्बाले यहाँ एस.सी के साथ अन्य जातियों एवं समुदायों की चेतना को महत्व देने का सवाल सामने रखते हैं। दलित साहित्य आज अनुसूचित जातियों तक ही सीमित रहा है, यह एक तथ्य है। ऐसे में दलित चेतना के विस्तार का प्रश्न अत्यंत प्रासंगिक हो उठता है। शरण कुमार लिम्बाले के अनुसार "...क्योंकि अगले कुछ दशकों में समाज के कई तबके अपनी व्यथा को लेकर साहित्य जगत में प्रवेश करने वाले हैं। भारतीय दलित साहित्य के प्रवाह के दरवाजे उन सब व्यथितों के लिए खुले रखे जाने वाले हैं अथवा इसे केवल दलित जातियों तक ही सीमित रखने वाले हैं?"[8]

वस्तुतः दलित चेतना के स्वरूप का निर्धारण दलित साहित्य की प्रासंगिकता से जुड़ा है। शरण कुमार लिम्बाले के अनुसार दलित चेतना के स्वरूप का विस्तार दलित साहित्य की व्यापकता को बढ़ाने में सहायक सिद्ध होगा ।

वर्ग और जाति का द्वंद्व

वर्ग और जाति के द्वंद्व का प्रश्न हमेशा से दलित चिंतकों के सामने रहा है। दलित साहित्य के केंद्र में जाति का प्रश्न रहा है, इसलिए जाति–उन्मूलन दलित – विमर्श का सर्वोपरि लक्ष्य है। इस लक्ष्य–प्राप्ति में वर्ग का सवाल सहायक है या बाधक, यह विचारणीय है। सुभाष गाताड़े इस स्थिति की जटिलता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं– "यहाँ के वामपंथियों द्वारा जाति की संश्लिष्टता को समझने में जिन सीमाओं का प्रदर्शन किया गया है–जिसकी वजह से उनपर 'समाजशास्त्रीय दृष्टिहीनता' के आरोप लगते रहे हैं – इन सभी के चलते हमारे वक्त के वाम बुद्धिजीवियों के लिए इस मुद्दे की संतोषजनक विवेचना करना मुमकिन नहीं हो सका है। अम्बेडकरी आंदोलनों के वारिसों के लिए भी – जिन्हें भी फूट दर फूट का शिकार होना पड़ा है–इस मुद्दे के प्रति संतुलित समझदारी बनाना मुश्किल साबित हुआ है ।"[9] इसलिए दोनों ही पक्षों के विचारकों को संतुलित दृष्टिकोण का विकास करना होगा। जाति और वर्ग दोनों ही हमारे समाज की वास्तविकता है। इसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव हर जगह दिखाई पड़ता है। 'दलित प्रश्न और मार्क्सवाद' नामक पुस्तक में आर.डी.आनंद ने लिखा है, "मैं यह समझ पाया हूँ कि दलितों के हितों की रक्षा मार्क्सवाद से कहीं भी खंडित नहीं होती है। मार्क्सवाद में दर्शन की स्पष्टता है तथा पूरा का पूरा अम्बेडकरवाद मार्क्सवाद में निहित है।"[10] इसी प्रकार 'जाति और वर्ग : एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण' पुस्तक में रंगनायकम्मा लिखती हैं, "वर्ग भेद ही जातिभेद का आधार है । इसलिए जातिभेद का लोप वर्ग संघर्ष पर ही निर्भर है।"[11]

इन दोनों ही उद्धरणों में वर्ग को सर्वाधिक महत्व दिया गया है और जाति की वास्तविकता को न्यूनीकृत करने का प्रयास किया गया है। दोनों ही मत अतिरंजनापूर्ण हैं। अम्बेडकरवाद और मार्क्सवाद एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं, एक दूसरे में शामिल नहीं। यह मान भी लिया जाए कि जाति का लोप वर्ग–संघर्ष पर निर्भर करता है, तब यह प्रश्न भी स्वाभाविक होगा कि उस वर्ग–संघर्ष का आधार क्या होगा। वह कौन सी भूमिका होगी जो वर्ग–संघर्ष के लिए जरूरी परिस्थितियों का निर्माण करेगी? निश्चित रूप से जाति की समस्या को संबोधित किए बिना, ऐसा संभव होना मुश्किल प्रतीत होता है ।

दूसरी तरफ दलित लेखकों एवं चिंतकों का एक वर्ग ऐसा है जो मार्क्सवाद को सहयोगी की भूमिका में नहीं देखता। उनका मानना है कि वर्ग–भेद को सर्वाधिक महत्व देने के कारण मार्क्सवाद ने जाति–प्रश्न को लगभग उपेक्षित समझा। इस संदर्भ में सुभाष गाताड़े का यह कहना बिल्कुल उचित प्रतीत होता है कि "भारतीय समाज व्यवस्था जिसकी तुलना डॉ. अम्बेडकर ने एक बहुमंजिली इमारत से की, जहाँ एक मंजिल से दूसरी मंजिल पर जाने के लिए सीढ़ी भी नहीं हो, उसे समझने के लिए मार्क्सवादी पद्धति को गहन ढंग से लागू करने की आवश्यकता होगी।"[12]

पिछले कुछ वर्षों में दोनों ही तरफ से लगने वाले आरोप–प्रत्यारोपों के बावजूद संवाद बढ़ा है। अब कई विचारक अम्बेडकर के विचारों एवं मार्क्सवादी विचारधारा को सहयोगी के रूप में देखते हैं। भारतीय मार्क्सवाद के अंदर यह सोच दृढ़ हुई है कि भारतीय परिवेश के अंतर्गत ही मार्क्सवादी विचारधारा को समझना एवं विकसित किया जाना चाहिए। भारतीय मार्क्सवादियों के सकारात्मक पहल के साथ दलित चिंतकों को भी पुरानी हो चुकी धारणाओं का त्याग करना होगा। किसी भी वैज्ञानिक विचारधारा की सफलता स्वयं को सही रखते हुए निरंतर आगे बढ़ते जाने में है। दलित – विमर्श को अपने अन्तर्गत आत्मालोचन की संस्कृति को विकसित करना होगा । इस संदर्भ में सुभाष गाताडे लिखते हैं "दलित जनता मोनोलिथ अर्थात अखण्ड है, यह बात पुरानी हो चुकी है। सामाजिक गतिविज्ञान पर बारीकी से निगाह रखने वाले बता सकते हैं कि समुदाय, गोत्र आधार पर दलित समुदाय में पहले से चली आ रही दरारों के अलावा दलित जन खुद विभिन्न तबकों/वर्गों में बँटे हुए हैं।"[13]

दलित–विमर्श की विचारधारा

दलित–विमर्श के समक्ष दलित साहित्य की वैचारिकी का निर्धारण एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस संदर्भ में कँवल भारती ने लिखा, "म. बुद्ध, कबीर, फुले, मार्क्स और अम्बेडकर के विचारों को केंद्र में रखकर यह साहित्य चलने वाला है अथवा कुछ राग अलापने वाला है?"[14] इसी सन्दर्भ में मुक्तिबोध के इस सवाल को भी समझना आवश्यक है कि "मेरे मन में बार–बार यह प्रश्न उठता है कि कबीर और निर्गुण पंथ के अन्य कवि तथा दक्षिण के कुछ महाराष्ट्रीय संत तुलसीदास जी की अपेक्षा अधिक आधुनिक क्यों लगते हैं?"[15] साहित्य की बुनियाद में किसी न किसी विचारधारा या दर्शन का होना जरूरी माना जाता है ।

दलित साहित्य की विचारधारा पर भी विभिन्न युगों एवं व्यक्तियों का प्रभाव है। माना जाता है कि यह बुद्ध, कबीर, फुले, मार्क्स से होता हुआ अम्बेडकर के विचारों में पूर्णता प्राप्त करता है। सूर्यनारायण रणसुभे के अनुसार"...अगर इन नामों से विवाद हों तो इस बात पर तो सहमति जतलाई जा सकती है कि भारतीय दलित साहित्य की नींव में भारतीय संविधान द्वारा दी गई मूल्यव्यवस्था को स्वीकारा जाए।"[16] सूर्यनारायण रणसुभे इस संदर्भ में मानते हैं कि भारतीय संविधान बुद्ध, कबीर, मार्क्स, फुले और अम्बेडकर के विचारों का सार है। इसलिए दलित – विमर्श को इन्हीं सभी चिंतकों के विचारों का गंभीरता से अध्ययन एवं पुनर्परीक्षण करना होगा।

दलित – विमर्श के संदर्भ में उपरोक्त चिंतकों में मार्क्स का नाम शामिल होना विवादास्पद हो सकता है। दलित वैचारिकी पर विचार करते हुए अम्बेडकर और मार्क्स के परस्पर विरोधी होने की बात को प्रमुखता से उठाया जाता है। जबकि दोनों के विचारों के केंद्र में शोषित वर्ग है। सूर्यनारायण रणसुभे इस संदर्भ में कहते हैं, 20वीं शती के महामानवों में से एक कार्ल मार्क्स भी हैं। इस महत्वपूर्ण विचारक का प्रभाव बाबा साहब अम्बेडकर पर भी रहा है। इसी संदर्भ में वे मराठी के वरिष्ठ दलित चिन्तक डॉ. राव साहब कसबे का जिक्र किया है। उन्होंने लिखा, "महाराष्ट्र के दलित चिंतकों में एक वर्ग ऐसा भी है जिसने मार्क्स को पूर्ण रूप से नकारा है परन्तु वरिष्ठ दलित चिन्तक डॉ. राव साहब कसबे ने इस विषय पर एक स्वतंत्र पुस्तक ही लिखी है 'मार्क्स और अम्बेडकर'। डॉ. कसबे ने अनेक प्रमाणों द्वारा यह साबित किया है कि मार्क्स को लेकर डॉ. अम्बेडकर के विचार कितने सकारात्मक थे ।"[17] यह प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण है कि भारतीय दलित चिन्तक और सर्जक मार्क्स के विचारों को किस रूप में स्वीकार करते हैं? इसी से सम्बंधित दूसरा पक्ष है कि मार्क्सवाद को साहित्य की मुख्य प्रेरणा मानने वाले विचारक एवं सर्जक अम्बेडकर के विचारों को कितना महत्वपूर्ण मानते हैं? इन दोनों के विचार एक दूसरे के विरोधी हैं या पूरक, इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार होना चाहिए ।

इन सारे प्रश्नों से दलित साहित्यकारों एवं विमर्शकारों को गुजरना होगा। सौंदर्यशास्त्र के निर्माण की चुनौती, एक बड़ी चुनौती है। इसलिए न सिर्फ आलोचना के स्तर पर बल्कि रचना के स्तर पर भी इन सारे सवालों के जवाब अपेक्षणीय हैं। यह सिर्फ दलित साहित्य ही नहीं बल्कि हिंदी साहित्य के विकास एवं प्रासंगिकता के लिए भी आवश्यक है क्योंकि "अलग सौंदर्यशास्त्र की परिकल्पना से हिंदी साहित्य का विघटन नहीं विस्तार होगा, ऐसी मेरी मान्यता है।"[18]

निष्कर्ष

साहित्य की वैचारिकी विचारधाराओं के आपसी रिश्ते का प्रतिफलन होता है। यह दो स्तरों पर घटित होता है। एक तरफ साहित्य अपने ऐतिहासिक, सामाजिक एवं युगीन विचारों से प्रभावित होता है और दूसरी तरफ उस पर किसी खास विचारधारा का प्रभाव होता है। इन्हीं का परिणाम किसी साहित्य

की वैचारिकी में परिलक्षित होता है। इस परिप्रेक्ष्य में ही दलित साहित्य की वैचारिकी पर विचार किया जाना चाहिए।

संदर्भ सूची

1. गौरीनाथ (संपा), बया, जनवरी–मार्च 2014, नई दिल्ली, सूर्यनारायण रणसुभे का लेख, भारतीय दलित साहित्य की चिंताएं, पृ. सं.11
2. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. सं. 15
3. उपरोक्त, पृ. सं.16
4. उद्दृत, शरण कुमार लिम्बाले, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, (अनुवाद रू रमणिका गुप्ता),
5. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000 पृ. सं.53
6. उद्दृत, उपरोक्त, पृ. सं.56
7. बया, जनवरी–मार्च 2014, सूर्यनारायण रणसुभे का लेख– 'भारतीय दलित साहित्य की चिंताएँ', पृ. सं.14
8. श्यौराज सिंह 'बेचौन', रजतरानी 'मीनू' (संपा.), दलित दखल, आकाश पब्लिशर्स, गाजियाबाद, 2011, पृ. सं.35
9. उपरोक्त, शरण कुमार लिम्बाले का लेख, दलित साहित्य और उसका भविष्य, पृ. सं. 35
10. सुभाष गाताडे, बीसवीं सदी में डॉ. अम्बेडकर का सवाल, दखल प्रकाशन, दिल्ली, 2014, पृ. सं. 62
11. आर.डी.आनंद, दलित प्रश्न और मार्क्सवाद, उद्भावना प्रकाशन, गाजियाबाद, 2013, पृ. सं.12
12. रंगनायकम्मा, जाति और वर्ग: एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण, राहुल फाउंडेशन, लखनऊ, 2013, पृ. सं.20
13. सुभाष गाताडे, बीसवीं सदी में डॉ. अम्बेडकर का सवाल, पृ. सं.139उपरोक्त, पृ. सं. 71
14. उद्दृत, बया, जनवरी–मार्च 2014, सूर्यनारायण रणसुभे का लेख– 'भारतीय दलित साहित्य की चिंताएँ', पृ. सं.11
15. नेमिचंद्र जैन (संपा), मुक्तिबोध रचनावली: पाँच, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 1985, पृ. सं. 288
16. बया, जनवरी–मार्च 2014, सूर्यनारायण रणसुभे का लेख– 'भारतीय दलित साहित्य की चिंताएँ', पृ. सं. 12
17. उपरोक्त, पृ. सं.12
18. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. सं. xi